

भारतेंदु युग का सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन Socio-Cultural Thinking of Bharatendu Era

Paper Submission: 05/08/2020, Date of Acceptance: 20/08/2020, Date of Publication: 21/08/2020



नविता चौधरी
असिस्टेंट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग,
देशबंधु महाविद्यालय,
कालकाजी, नई दिल्ली,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली, भारत

सारांश

वर्षों की लंबी गुलामी की परंपरा ने हिंदुस्तानी वैचारिक के आधार को ही दूषित कर दिया था। हम जो भी सोचते हैं एवं जीते थे उसमें संवेदनशीलता विवेक एवं समझदारी का अभाव था यही कारण था हमने आपस में ही जाति धर्म, संस्कृति एवं क्षेत्र को आधार बनाकर एक दूसरे को नीचा दिखाने की ओर प्रवृत्त हो गए जिसके कारण सामाजिक एवं परिवारिक ताना-बाना शोषण एवं उत्पीड़न का प्रत्यक्ष गवाह बन गया। आत्मबल एवं आत्मविश्वास की कमी के कारण एकता, राष्ट्रियता एवं समरसता का भाव नहीं रहा। जिसके कारण समाज में अनेक प्रकार की विषमताएं पाखंड आडंबर एवं कुरीतियों का बोलबाला हो गया था। विदेशी शासकों से प्रेरणा लेकर सबल भारतवासियों ने भी आपसी विभेद एवं शत्रुता को भी प्रोत्साहित किया, जिससे वे लंबे समय तक अपना वर्चस्व कायम रखकर शोषण कर सकें। धार्मिक आडंबर एवं कुरीतियों की आड़ में सामान्य जन को धर्म एवं संस्कृति की मूल भावना से ही विस्मृत करने का प्रयास किया गया। शोषण, उत्पीड़न, विवेक एवं अलगाव को नियति मान लेने से जागरूकता स्वतंत्रता एवं तर्क का कोई महत्त्व नहीं रहा पुनर्जागरण के आलोक में चलाए गए विविध सुधार आंदोलन ने इनके विरुद्ध जमकर प्रतिवाद किया एवं भारतीयों में स्वतंत्रता की चेतना का प्रचार प्रसार किया।

Varsha's long tradition of slavery contaminated the very basis of Hindustani ideology. There was a lack of sensitivity, discretion and understanding in what we thought and lived. That was the reason we tended to degrade each other by making caste, religion, culture and region based on each other, due to which social and family fabrication Became a direct witness of exploitation and oppression. There was no sense of unity, nationality and harmony due to lack of confidence and confidence. Due to which many kinds of inequalities in the society, hypocrisy and evil were dominated. Taking inspiration from the foreign rulers, the strong Indians also encouraged mutual discrimination and enmity, so that they could exploit by maintaining their supremacy for a long time. Under the guise of religious hypocrisy and evils, an attempt was made to forget the common man with the basic spirit of religion and culture. Considering exploitation, oppression, conscience and isolation as destiny, awareness freedom and logic had no importance, the diverse reform movement in the light of the Renaissance fiercely protested against them and spread the consciousness of freedom among Indians.

मुख्य शब्द : आधुनिक विज्ञान, क्रांतिकारी, बौद्धिकता, अप्रत्याशित, नवीन, परंपरा, रूढियों जाति, रंग संस्कार, धर्म, विषमता, छुआछूत, अंतर-विवाह, हुक्का-पानी, मर्यादा, जीवनहीन, सामंतवाद, अवकाश, परिश्रम, दवाइयां, अंग्रेजी, किसान, कर्ज, जमींदार, कारीगर, भूख, बाढ़, संस्कृत, शिक्षण, नौकरी, गुलामी, बेरोजगारी, उत्पीड़न, शोषण ।

Modern Science, Revolutionary, Intellect, Unpredictable, New, Tradition, Traditional Caste, Color Rites, Religion, Oddity, Untouchability, Inter-Marriage, Hookah-Water, Limit, Lifeless, Feudalism, Holiday, Labor, Medicines, English, Farmer, Debt, Zamindar, Artisan, Hunger, Flood, Sanskrit, Teaching, Job, Slavery, Unemployment, Oppression, Exploitation.

प्रस्तावना

आधुनिक काल में यद्यपि नवीन ज्ञान-विज्ञान तथा आधुनिक दृष्टिकोण का आगमन हो चुका था, किंतु भारतीय समाज अपने पुराने ढर्रे के मोह में बंधा,

इस क्रांतिकारी परिवर्तन से दूर था। समाज के बहुत कम हिस्से को आधुनिकता के बीच अप्रत्याशित द्वन्द्व इस समय की मुख्य समस्या थी। हिन्दी-समाज इस आधुनिकता से कोसों दूर था। हिन्दी-समाज में सैकड़ों वर्षों से चली आ रही जातिगत एवं धर्मगत रूढ़ियाँ समाज के जड़ को मजबूती से जकड़े हुए थीं। जाति, रंग और संस्कारों का भेद जितना हिन्दी-प्रदेश में था उतना तत्कालीन बंगाल या दक्षिण भारत में नहीं था। अतः इस भेद ने हिन्दी-समाज के विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर उसे खोखला बना दिया। हजारों वर्षों के हिन्दू-जनसमूह नाना स्तरों में विभाजित है। इन विभागों को दृढ़ करने के लिए ऐसे अनेक कठोर नियम बनाए गए हैं, जो दुर्लभ्य हैं। छुआछूत, अन्तर्विवाह, हुक्का-पानी आदि बातें इन जातियों के परस्पर संपर्क में बाधा भी देती हैं और इनकी सामाजिक मर्यादा भी बताती हैं। पुराना साहित्य और इतिहास साक्षी है कि मुसलमानों के आने के पहले यह मर्यादा उतनी दुर्लभ्य नहीं बनी थी, जितनी बाद में हो गई। बाद में भी समाज एकदम जीवनहीन और गतिहीन काठ के खानों में बंद नहीं था, यद्यपि उत्तरोत्तर बंद होने की प्रवृत्ति बढ़ती ही गई है।¹ इन सभी सामाजिक रूढ़ परंपराओं की पृष्ठभूमि में युग-निर्माता भारतेंदु का आगमन होता है।

समाज में वर्ग-भेद तथा अमीरी-गरीबी की खाई को गहरा करनेवाली दूसरी जटिल समस्या सामंतवाद की थी, जो भारतीय समाज में परंपरा से विद्यमान थी। रामविलास शर्मा ने लिखा है – “इस भेदभाव का मुख्य कारण यह है कि समाज में जब एक अवकाश भोगी वर्ग पैदा हो जाता है, तब वह मेहनत करने वालों को, खासतौर से हाथ से परिश्रम करने वालों को, नीचा मानने लगता है। वह स्वयं काम नहीं करता, अपने को श्रेष्ठ मानता है। जो हाथ से काम करते हैं, उनको नीचा मानता है। भले ही वैद्य के बिना उसकी जान निकल जाए, लेकिन वैद्य हाथ से भी काम करता है, दवाईयाँ कूटता है, जड़ी-बूटियाँ पहचानता है, तो उनको भी नीचा दर्जा दिया।”² अंग्रेजी शासन व्यवस्था ने भी यहां के जातिवाद एवं वर्ग-भेद को अत्यधिक बढ़ावा दिया। उन्होंने नयी जमींदारी प्रथा-जिसके अंतर्गत अंग्रेज जमींदारों के जमींदार थे। नयी जमींदारी-प्रथा ने गरीबी बेहिसाब बढ़ा दी, किसान कर्ज के बोझ से दब गए, सूत निकालने वाले तथा खेती करने वाले भीख माँगने लगे। नील की खेती एवं इंग्लैंड से बनी वस्तुओं का भारत के बाजार में आगमन से किसानों तथा कारीगरों की स्थिति अत्यंत दुःखपूर्ण हो गई। भारतीय लघु-कुटीर उद्योग नष्ट हो गए, तथा लाखों की संख्या में लोग भूखों मरने लग गए। अंग्रेजों ने यहां की जाति व्यवस्था को और अधिक बढ़ावा दिया। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा का कथन है – “अंग्रेजी राज्य में जाति-प्रथा अधिक कठोर हुई, यह तो इसी बात से देखा जा सकता है कि व्यक्ति के नाम के साथ उसकी जाति के नाम जोड़ने का सिलसिला जितना बड़े पैमाने पर उन्नीसवीं सदी में और फिर बीसवीं सदी में देखा गया उतने बड़े पैमाने पर ऐसा सिलसिला भारत में कभी था ही नहीं। वर्ण का महत्त्व अधिक था। वर्ण के

लोगों यानी सिर्फ बौद्धिक-वर्ग पर इस नवीन दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा। परंपरा और

अंतर्गत छोटी-मोटी जातियों का महत्त्व नहीं था। तीन-चार जातिवाचक शब्द शर्मा, भट्ट, मिश्र आदि संस्कृत ग्रंथों में पंडितों के नाम के साथ मिलते हैं। लेकिन आधुनिक काल में व्यक्ति के नाम के साथ पचासों नए जाति-सूचक शब्द जोड़े जाने लगे। अंग्रेजी राज्य की परिस्थितियों में यह सब हुआ। ऐसा अकारण नहीं हुआ। अंग्रेज इस बात को प्रोत्साहन देते थे कि लोग अपनी जाति का नाम बराबर लिखें। सरकारी नौकरी के लिए आवेदन-पत्र देना हो तो उसमें जाति का उल्लेख करना जरूरी होता था। किसी शिक्षा संस्थान में भर्ती होना हो, वहां भी जाति का नाम लिखना आवश्यक था। अंग्रेजों ने एक काम और किया। कुछ बिरादरियों को उन्होंने अधिक शूरवीर मान लिया, इनको फौज में विशेष रूप से नौकरी मिलनी चाहिए। कुछ जातियाँ शूरवीर हो गईं, कुछ जातियाँ केवल सेवा करने के योग्य रह गईं।³ इस प्रकार भारतीय समाज में सामंतवाद एवं साम्राज्यवाद के तहत समस्याएँ और भी जटिल हो गयीं। हिन्दी-समाज के अंतर्गत भी कई जटिल अंतर्विरोध एवं रूढ़ मान्यताएँ व्याप्त थीं। भारतेंदु ने अपने युग और समाज की तमाम सड़ी-गली कुप्रथाओं और रूढ़ियों के विरोध में नवजागरण एवं सुधारात्मक कार्य का श्रीगणेश किया। उन्होंने बाल-विवाह का विरोध तथा विधवा-विवाह का समर्थन एवं स्त्री-शिक्षा पर विशेष जोर दिया।

“जात ले जात, टके से जात। एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायं और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान।”⁴ नाटक में उपर्युक्त कथन ब्राह्मण अर्थात् समाज का वह वर्चस्वशाली वर्ग जो शास्त्र के आधार पर समाज को एक व्यवस्था प्रदान करता है। भारतेंदु का इशारा प्रस्तुत नाटक में ब्राह्मणों के स्वार्थ एवं शोषण की ओर है, जहां ब्राह्मणों के लिए महत्त्वपूर्ण ‘एक टका’ हो जाता है न कि शास्त्रीय नियम। अर्थात् भारतेंदु उस काल या समय से चार कदम आगे जाकर यह दिखाते हैं कि, समाज का कोई भी नियम अंतिम अथवा चिरस्थायी नहीं है, उसे समय के साथ बदला जा सकता है। इसीप्रकार भारतेंदु का व्यंग्यात्मक प्रहसन ‘सबे जाति गोपाल की’ में भी ब्राह्मणों की स्वार्थपरक नीति तथा जजमानों की मूर्खता को व्यक्त किया गया है। एक क्षत्री की जातिपरक समस्या (क्षत्री-महाराज देखिए बड़ा अँधेर हो गया कि ब्राह्मणों ने व्यवस्था दे दी कि कायस्थ भी क्षत्री हैं। कहिए, अब कैसे काम चलेगा?) को ब्राह्मण अपनी मूर्खतापूर्ण या यों कहें कि बेतुकी बातों से संतुष्ट कर देता है। उदाहरण द्रष्टव्य है :-

क्षत्री – ‘भला, महाराज जो चमार कुछ बनना चाहे तो उसको भी आप बना दीजिएगा।

पंडित – हां, चमार तो ब्राह्मण हुई है इस में क्या संदेह है, ईश्वर के चर्म से इनकी उत्पत्ति है... चमार में तीन अक्षर हैं, ‘च’ चारों वेद ‘म’ महाभारत ‘र’ रामायण

जो इन तीनों को पढ़ावे वह चमार। ..देखो रैदास इन में कैसे भक्त हुए हैं लालो दक्षिणा लाओ।⁵

जाति और धर्म की आड़ में ही समाज में एक जटिल समस्या यानी छुआछूत और हुक्का-पानी आदि का जन्म होता है। भारतेंदु इन सभी समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाने के साथ-साथ जनता को इन कुरीतियों तथा कुप्रथाओं से अवगत कराते हैं। वैदिक-धर्म की आड़ में समाज में किस प्रकार व्याभिचार को प्रश्रय मिला है इसका अच्छा उदाहरण है भारतेंदु का नाटक **वैदिक हिंसा हिंसा न भवति**। प्रस्तुत नाटक में माँस, मदिरा, हिंसा तथा स्त्री-सुख आदि प्रश्नों पर व्यंग्य किया गया है। राजा, मंत्री, पुरोहित, गंडकीदास आदि प्रतीकात्मक पात्रों के द्वारा भारतेंदु समाज में पनपे दुर्विचार तथा भोग की प्रवृत्तियों का चित्रण करते हैं, उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :-

पुरोहित कथन

1. "बलि बिना पूजा हो ही गी नहीं और जब बलि दिया तब उसका प्रसाद अवश्य ही लेना चाहिए। अजी भागवत में बलि देना लिखा है, जो वैष्णवों का परम पुरुषार्थ है।"⁶
2. "खुब मजे में माँस कचर-कचर के खाना और चैन करना। एक दिन तो आखिर मरना ही है, किस जीवन के वास्ते शरीर का व्यर्थ वैष्णवों की तरह क्लेश देना, इससे क्या होता है।"⁷

राजा - "वेद वेद सबही कहें, भेद न पायो कोय।

बिना मदिरा के पान सो, मुक्ति कहो क्यों होय।"⁸

'अंधेर नगरी' और 'भारत-दुर्दशा' भारतेंदु के श्रेष्ठ नाटक हैं। जिनमें भारतीय समाज की समस्त रूढ़ियों, संकीर्णताओं तथा अंधविश्वासों का चित्रण किया गया है। 'अंधेर नगरी' नाटक उस वर्तमान सामाजिक यथार्थ को चित्रित करता है, जिसमें जाति, धर्म, संस्कार, कानून सभी पैसे के बल पर परिवर्तनशील है। इस संदर्भ में प्रभाकर श्रोत्रिय ने लिखा है "अंधेर नगरी" का पहला प्रयोजन ही है काले को सफेद और सफेद को काला करना। किसी रचना से निकला ऐसे विस्तृत अर्थ-संसार ही उसे कालजयी बनाता है। ऐसी ही वाणी के लिए कहा गया है 'अनेकार्थ सार्थः'।⁹ इसी प्रकार 'भारत-दुर्दशा' नाटक में अंग्रेजी सत्ता के अधीन भारत-वर्ष की दुरावस्था का चित्रण किया गया है। 'फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात आदि के पंचामृत ने भाषा, धर्म, चाल, व्यवहार, खाना-पीना, इत्यादि के आधार पर संपूर्ण समाज को अलग-अलग कर दिया।' समाज में व्याप्त आलस्य का बड़ा ही सजीव चित्रण भारतेंदु ने अपनी गजल में किया है:-

"रहने दो जमीं पर मुझे आराम यहीं है।

छेड़ो न नक्शेपा हैं मिटाना नहीं अच्छा।।

उठ करके घर से कौ नचले यार के घर तक

मौत अच्छी है पर दिल का लगाना नहीं अच्छा।।"

धोती भी पहने जब कि कोई गैर पिन्हा दे।

उमरा को हाथ पैर चलाना नहीं अच्छा।।

सिर भारी चीज है इसे तकलीफ हो तो हो।

पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।।"¹⁰

भारतेंदु का समय कई तरह की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल का समय है और यह कहना कठिन होगा कि ऐसे संक्रांतिकालीन समय में भारतेंदु जैसे व्यक्तित्व को जन्म दिया या भारतेंदु ने अपने व्यक्तित्व से अपने समय को बदल दिया। शायद दोनों ही बातें सही हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के ठीक मध्य में भारतेंदु का जन्म हुआ और अपने पैतृक परिवर्तनों और देश की गुलामी से घिरे एक परिवार की जो आकांक्षा हो सकती है, उसमें किसी का भी इतने दूर तक आगे बढ़ जाना और फिर आनेवाली सदियों तथा पीढ़ियों को प्रभावित करना, निस्संदेह एक व्यक्तित्व सम्पन्न मनीषा का ही कार्य हो सकता है।

समाज में व्याप्त लोभ, द्वेष, वैमनस्य, आलस्य तथा धार्मिक रूढ़ियों आदि को दूर करने के लिए भारतेंदु ने शिक्षा पर जोर दिया। दरअसल समाज की अधिकांश समस्याएँ अशिक्षा एवं अंधविश्वासों से जुड़ी हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-प्रदेश के लोगों का शिक्षा का प्रतिशत बहुत कम था। स्त्री-शिक्षा तो न्यूनतम प्रतिशत में थी। समाज का पूर्ण विकास तभी संभव है जब समाज के दोनों वर्ग (स्त्री तथा पुरुष) शिक्षित एवं कर्मठ हों। स्त्री-शिक्षा की दृष्टि से हिन्दी-समाज अत्यधिक पिछड़ा हुआ था। यही कारण है कि स्त्रियों का शोषण एवं अत्याचार समाज की मुख्य समस्या बनी हुई थी। भारतेंदु के पत्र-पत्रिकाओं में शिक्षा पर जोर दिया जाता था। 'बाल-बोधिनी' पत्रिका का संपादन भारतेंदु ने स्त्री-शिक्षा की दृष्टि से किया था। "यह पत्रिका बाल पाठशालाओं में प्रचार के उद्देश्य से गवर्नमेंट की आज्ञानुसार निकाली गई। गवर्नमेंट इसकी सौ प्रतियाँ पाठशालाओं के लिए लेती रही। इस पत्रिका में बहुत से उपयोगी तथा सुंदर निबंध प्रकाशित हुए। स्वर्गवासी बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह पण्डित शीतल प्रसाद त्रिपाठी, इत्यादि उसमें लेख निकलवाते थे।"¹¹ भारतेंदु ने अंग्रेजी शिक्षा को सिर्फ पाश्चात्य दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य तकनीकी ज्ञान के लिए महत्वपूर्ण माना है न कि शिक्षा की आड़ में विदेशी वस्तुओं का भारतीय बाजार में आगमन। अंग्रेजी शिक्षा का दुष्प्रभाव यह पड़ा कि लोग अंग्रेजी संस्कृति तथा इंग्लैंड से बनी वस्तुओं को ही श्रेष्ठ समझने लगे। भारतीय समाज के कुछ अतिपाश्चात्यवादी लोग तो यहां तक चाहते थे कि हवा और मिट्टी भी इंग्लैंड से आए तो अच्छा है। भारतेंदु ने इसके विरोध में स्वदेशी आंदोलन तथा सांस्कृतिक जागरण जैसा महत्वपूर्ण कार्य किया। 30 सितंबर 1872 की 'कविवचन सुधा' में भारतेंदु लिखते हैं, "अंग्रेज लोग केवल हम लोगों को उसी शिक्षा का उपदेश करते हैं जिसमें किसी प्रकार की शिल्पादिक कोई कला न हो केवल पंडित मात्र बन जाँएँ।"¹² इसी प्रकार 8 फरवरी, 1874 की 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित शिक्षा के संबंध में टिप्पणी महत्वपूर्ण है, "अंग्रेजों ने हम लोगों को विद्यामृत पिलाया और उससे हमारे देश बांधवों को बहुत लाभ हुए, उसे हम लोग अमान्य नहीं करते। परंतु उन्हीं के अनुसार हिन्दुस्तान की वृद्धि का समय आने वाला हो सो तो एक तरफ रहा पर प्रतिदिन मूर्खता, दुर्भिक्षता और दैन्य प्राप्त होता जाता है। अंग्रेजों ने उनको अपनी विद्या की रुचि लगाकर राजनीति में उनके चित्त को आकर्षण किया

सच्ची विद्या उन्हें न दिया। और यही कारण है कि हम लोग इनकी माया से मोहित हो गए और हम लोगों को अपनी हानि दृष्टि न पड़ी।¹³

इस प्रकार भारतेंदु उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय समाज में, मुख्य रूप से हिन्दी समाज में व्याप्त समस्याओं, चाहे वह साम्राज्यवाद के कारण उत्पन्न हो अथवा सामंतवाद के कारण, को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ उसके समाधान में जो व्यापक जन-जागरण चलाया साहित्य में उसका विस्तार प्रगतिवाद तक होता है। भारतेंदु का लेखन जितना वर्तमान समाज या युग का मार्गदर्शक सिद्ध होता है उतना ही आनेवाले कल का पथ-प्रदर्शक। "भारतेंदु को दो मोर्चों पर लड़ाई लड़नी पड़ी। एक तरफ वे राममोहन राय की और दूसरी ओर बालगंगाधर तिलक की भूमिका निभा रहे थे। इसी तरह एक ओर वे अंग्रेजी व्यवस्था के खिलाफ लड़ रहे थे तो दूसरी ओर उन्हें अपने ही लोगों, अपनी ही कुरीतियों से लड़ना था। जट्ट गँवार की तरह लड़ते तो नाहक ही अंग्रेजों के और अपने समाज के कोपभाजन बनते और कुछ खास और नाटक की विधि को अपना हथियार बनाया। नाटक में भी लोकनाट्य शैली, प्रहसन, रूपक और ओपेरा को अपनाया जिनमें चुटिले, गुदगुदानेवाले और मनोरंजक गीत भरे संवादों की प्रधानता होती है आज जनसंचार के सिद्धांतों में भी इसी अवधारणा को सबसे सशक्त माना जा रहा है जिसमें मनोरंजन, शिक्षा और सूचना एक दूसरे में घोलकर पेश किए जाएँ। भारतेंदु ने भी तो यही किया।"¹⁴

भारतेंदु का रचनाकार व्यक्तित्व जहां एक ओर सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिदृश्य को अंकित करता है वहीं, दूसरी ओर संपूर्ण मानव-समुदाय को केंद्र में लेकर चलता है। भारतेंदु की रचनाओं में वैष्णव भक्ति की प्रतिष्ठा और वैष्णव-धर्म मनुष्य को केंद्र में रखता है। वैष्णव-धर्म के अंतर्गत मानवीय क्रिया-कलापों, स्वभावों, लौकिक पक्षों को स्थापित किया गया है। यही कारण है कि वैष्णव-धर्म भारतीय समाज में बहुलता से स्वीकार किए जाता रहा है। 'स्वर्ग में विचार सभा' नामक प्रसिद्ध भारतेंदु का व्यंग्यात्मक निबंध में मानववाद और उदाहरणवादपर ही अधिक जोर दिया गया है। यह निबंध स्वामी दयानंद और केशवचन्द्र सेन की विचारधाराओं पर आधारित है। स्वर्ग में दो दल हैं - एक कंसरवेटिव तो दूसरा लिबरल। लिबरल ही बाद में रेडिकल में परिवर्तित हो जाता है। जिसमें स्वयं भारतेंदु भी आ जाते हैं। रामविलास शर्मा का यह लम्बा उद्धरण कई मूल प्रश्नों को दर्शाता है, "भारतेंदु कुछ विशेष कारणों से वैष्णव धर्म को उदार और रेडिकल मानते थे। हिन्दू धर्म में कबीर, दादू, नानक आदि जो विद्रोही उत्पन्न हुए हैं, उनको वह 'वैष्णवता' का ही प्रतिनिधि मानते थे। उनके निबंध 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में इस सुधारक परंपरा का विशेष विवेचन किया गया है। इन संतों का हिन्दू समाज पर जो प्रभाव पड़ा है, उसी को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा है कि वैष्णव मत "भारतवर्ष की हड़डी तक में मिल गया है।" वैष्णवता की व्याख्या करते हुए भारतेंदु ने धर्म को और भी उदार बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। विलायत जाकर शिक्षा पाने का समर्थन किया

है। इस निबंध के अंत में उन्होंने जो कुछ कहा है, उससे उनके युग की नवीन विचारधारा अच्छी तरह समझ में आ जाती है। भगवान की भक्ति में मगन रहकर स्वर्ग पाने की आशा करनेवालों से उन्होंने कहा है, "जब पेट-भर खाने को ही न मिलेगा तो धर्म कहां बाकी रहेगा। इससे जीव-मात्र को सहज धर्म उदर-पूरण पर अब ध्यान देना चाहिए।" वैष्णवता की यह विचित्र व्याख्या थी जिसका बहुतां की समझ में उस समय न आया होगा, विशेषकर उन पंडितों की जो वैष्णवता की बड़ी-बड़ी आध्यात्मिक व्याख्याएँ करते हुए भी अपने जीवन में सकार भोजनावृत्तिवला अंश ही अधिक चरितार्थ करते थे। भारतेंदु एक उदार और विकासोन्मुख परंपरा में सारी जनता को संगठित करना चाहते थे।¹⁵

भारतेंदु का सांस्कृतिक जागरण मुख्य रूप से संपूर्ण भारतीय समाज के उस कड़ी को जोड़ता है जो जाति, धर्म तथा लोक-संस्कृति के नाम पर खण्ड-खण्ड में विभक्त थी। अपने बलिया वाले व्याख्यान में वे कहते हैं, "वैष्णव शक्ति इत्यादि नाना प्रकार के मत के लोग आपस का वैर छोड़ दें। यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए। जाति में कोई चाहे ऊँचा हो चाहे नीचा हो सबका आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो उसका वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों को तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए।"¹⁶ भारतेंदु सभी की उन्नति को मूल में धर्म को मानते हैं। और धार्मिक उन्नति चाहते हैं। भारतेंदु हिन्दू-धर्म अथवा त्योंहारों में छिपे विधि-विधानों को महत्त्व देते हुए बताते हैं कि ये सभी विधि-नियम आदि अकारण नहीं हैं बल्कि जीवन से जुड़ी हुई चीजें हैं। अपने व्याख्यान में वे बताते हैं कि, "यही तुम्हारा बलिया का मेला और यहां स्नान क्यों बनाया गया है? जिसमें जो लोग कभी आपस में नहीं मिलते, दस-दस, पाँच-पाँच कोस से वे लोग साल में एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलें। एक दूसरे का दुःख-सुख जानें। गृहस्थी के काम की वह चीजें जो गाँव में नहीं मिलती, यहां से ले जायें। एकादशी का व्रत क्यों रखा है? जिसमें महीने में दो-एक उपवास से शरीर शुद्ध हो जाय। गंगाजी नहाने जाते हो तो पहिले पानी सिर पर चढ़ा कर तब पैर डालने का विधान क्यों है? जिसमें तलुए से गरमी सिर में चढ़कर विकार न उत्पन्न करे। दीवाली इसी हेतु है कि इसी बहाने साल भर में एक बेर तो सफाई हो ही जाय। यही तिहवार ही तुम्हारी मानो म्यूनिसिपालिटी है। ऐसे ही सब पर्व सब तीर्थ व्रत आदि में कोई हिकमत है।"¹⁷ इस प्रकार भारतेंदु जहां एक ओर परंपरागत रूढ़ियों का खंडन करते हैं वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक महत्त्व से अनपढ़ जनता को परिचित भी कराते हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध आलेख में या विश्लेषिक करने का प्रयास है कि नवजागरण की चेतना को जागृत करने के अभियान भारतेंदु मंडल के साहित्यकारों की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही है। साहित्य में स्वाधीनता की लड़ाई को अपने ढंग से लड़ने के लिए प्रवृत्त है। साहित्य में मुक्ति केवल राजनीतिक वर्चस्व से ही नहीं सामाजिक विषमता

एवं उत्पीड़न से भी हो, यही सजन का साध्य बन गया था।

अंत टिप्पणी

1. शंभूनाथ (सं.) 'जातिवाद और रंगभेद', वाणी, 1990, पृ.39
2. वही, पृ.51
3. वही, पृ.58
4. भारतेंदु समग्र, पृ.531
5. वही, पृ.542
6. वही, पृ.310
7. वही
8. वही
9. प्रभाकर श्रोत्रिय (सं.) 'नया ज्ञानोदय' (अंक 41, जुलाई 2006), संपादकीय, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.7,
10. भारतेंदु समग्र, पृ.464
11. शंभूनाथ, अशोक जोशी (सं.) 'भारतेंदु और भारतीय नवजागरण', आनेवाला कल प्रकाशन, 1986, पृ.110
12. रामविलास शर्मा, 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश', पृ.391 से उद्धृत कविवचन सुधा की पंक्तियां
13. वही, पृ.391
14. नामवर सिंह (सं.) 'आलोचना' (त्रैमासिक), सहस्त्रवादी अंक सोलह, 2004, जनवरी-मार्च, पृ.89-90
15. वही, पृ.101
16. रामविलास शर्मा, 'भारतेंदु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा', राजकमल, 1998, पृ.77
17. वही, पृ.1012

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शंभूनाथ (सं.) 'जातिवाद और रंगभेद', वाणी, 1990, पृ.39
2. भारतेंदु समग्र, पृ.531
3. शंभूनाथ, अशोक जोशी (सं.) 'भारतेंदु और भारतीय नवजागरण', आनेवाला कल प्रकाशन, 1986, पृ.110
4. रामविलास शर्मा, 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश', पृ.391 से उद्धृत कविवचन सुधा की पंक्तियां
5. नामवर सिंह (सं.) 'आलोचना' (त्रैमासिक), सहस्त्रवादी अंक सोलह, 2004, जनवरी-मार्च, पृ.89-90
6. रामविलास शर्मा, 'भारतेंदु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा', राजकमल, 1998, पृ.77